||Shri Hari||

Welcome to eBooks in HINDI

एक नयी बात

Table of Contents

4

१. एक नयी बात 6

२. सार बात 23

३. भगवत्प्रेमका स्वरुप और महत्त्व..29

४. परम्पितासे प्रार्थना 48

1434

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

एक नयी बात

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

१. अलौकिक प्रेम

सं० २०६४ आठवाँ पुनर्मुद्रण १०,०००
कुल मुद्रण ८५,०००

❖ मूल्य— २ रु०
(दो रुपये)

ISBN 81-293-0988-2

प्रकाशक एवं मुद्रक—
गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
(गोबिन्दभवन-कार्यालय, कोलकाता का संस्थान)
फोन : (०५५१) २३३४७२१; फैक्स : (०५५१) २३३६९९७
e-mail : **booksales@gitapress.org** website : **www.gitapress.org**

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ-संख्या
१. एक नयी बात	....	१
२. सार बात	....	१८
३. भगवत्प्रेमका स्वरूप और महत्त्व	....	२४
४. परमपितासे प्रार्थना	....	४३

१. एक नयी बात

॥ श्रीहरिः ॥

एक नयी बात

जिससे क्रियाकी सिद्धि होती है, जो क्रियाको उत्पन्न करनेवाला है, उसको 'कारक' कहते हैं। कारकोंमें कर्ता मुख्य होता है; क्योंकि सब क्रियाएँ कर्ताके ही अधीन होती हैं। अन्य कारक तो क्रियाकी सिद्धिमें सहायकमात्र होते हैं, पर कर्ता स्वतन्त्र होता है। कर्तामें चेतनका आभास होता है; परन्तु वास्तवमें चेतन कर्ता नहीं होता। इसलिये गीतामें जहाँ भगवान्‌ने कर्ममात्रकी सिद्धिमें अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव—ये पाँच हेतु बताये हैं, वहाँ शुद्ध आत्मा (चेतन)-को कर्ता माननेवालेकी निन्दा की है—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

(१८। १६)

'ऐसे पाँच हेतुओंके होनेपर भी जो कर्मोंके विषयमें केवल (शुद्ध) आत्माको कर्ता देखता है, वह दुष्ट बुद्धिवाला ठीक नहीं देखता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है अर्थात् उसने विवेकको महत्त्व नहीं दिया है।'

गीतामें भगवान्ने कहीं प्रकृतिको, कहीं गुणोंको और कहीं इन्द्रियोंको कर्ता बताया है। प्रकृतिका कार्य गुण हैं और गुणोंका कार्य इन्द्रियाँ हैं। अतः वास्तवमें कर्तृत्व प्रकृतिमें ही है। हमारे चेतन स्वरूपमें कर्तृत्व नहीं है। भगवान्ने कहा है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

(३। २७)

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

(३। २८)

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(१४। १९)

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(५। ९)

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥

(१३। २९)

भगवान्‌ने अपनेमें भी कर्तृत्व-भोक्तृत्वका निषेध किया है; जैसे—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

(गीता ४। १३-१४)

'मेरे द्वारा गुणों और कर्मोंके विभागपूर्वक

चारों वर्णोंकी रचना की गयी है। उस (सृष्टि-रचना आदि)-का कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू अकर्ता जान। कारण कि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते। इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।'

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥

(गीता ९। ९)

'हे धनंजय! उन (सृष्टि-रचना आदि) कर्मोंमें अनासक्त और उदासीनकी तरह रहते हुए मुझे वे कर्म नहीं बाँधते।'

तात्पर्य है कि सृष्टिकी रचना, पालन, संहार आदि सम्पूर्ण कर्मोंको करते हुए भी भगवान् उन कर्मोंसे लिप्त नहीं होते अर्थात् उनमें कर्तापन और भोक्तापन नहीं आता। भगवान्‌का

ही अंश होनेसे जीवमें भी कर्तापन और भोक्तापन नहीं आता—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(गीता १३। ३१)

'हे कुन्तीनन्दन! यह पुरुष स्वयं अनादि होनेसे और गुणोंसे रहित होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

दो विभाग हैं—जड़ और चेतन। जड़-विभाग नाशवान् है और चेतन-विभाग अविनाशी है। गीतामें भगवान्ने जड़-विभागको प्रकृति, क्षेत्र, क्षर आदि नामोंसे कहा है और चेतन-विभागको पुरुष, क्षेत्रज्ञ, अक्षर आदि नामोंसे कहा है। ये दोनों विभाग अन्धकार और प्रकाशकी तरह परस्पर सर्वथा असम्बद्ध हैं। जड़-विभाग असत्

है, जिसकी सत्ता ही विद्यमान नहीं है और चेतन-विभाग सत् है, जिसकी सत्ता विद्यमान है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)। सम्पूर्ण क्रियाएँ जड़-विभागमें ही होती हैं। चेतन-विभागमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं होती। स्थूलशरीर तथा उससे होनेवाली क्रियाएँ, सूक्ष्मशरीर तथा उससे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीर तथा उससे होनेवाली स्थिरता और समाधि—ये सभी जड़-विभागमें ही हैं। कामना, ममता, अहंता आदि सम्पूर्ण विकार जड़-विभागमें ही हैं। सम्पूर्ण पाप-ताप भी जड़-विभागमें ही हैं। पराश्रय तथा परिश्रम—ये दोनों जड़-विभागमें हैं और भगवदाश्रय तथा विश्राम (अपने लिये कुछ न करना)—ये दोनों चेतन-विभागमें हैं। जड़ और चेतनके विभागको अलग-अलग जानना ही ज्ञान है—'**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं**

ज्ञानचक्षुषा' (गीता १३। ३४)। इस ज्ञानरूपी अग्निसे सम्पूर्ण पाप सर्वथा नष्ट हो जाते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

(गीता ४। ३६-३७)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा। हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको सर्वथा भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण (संचित, प्रारब्ध* तथा क्रियमाण) कर्मोंको सर्वथा भस्म कर देती है।'

---

* ज्ञान होनेपर प्रारब्ध अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति तो पैदा कर सकता है, पर सुखी-दुःखी नहीं कर सकता।

तात्पर्य है कि चेतन-विभागमें अपनी स्वतः-स्वाभाविक स्थितिका अनुभव करते ही साधक सम्पूर्ण विकारों तथा पापोंसे छूट जाता है और जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है। कारण कि जड़-विभागके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही जन्म-मरणका मूल कारण है— **'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)।

यहाँ एक शंका हो सकती है कि चेतनके बिना केवल जड़में पाप-पुण्य आदि होना कैसे सम्भव है? इसका समाधान है कि जैसे एक गाड़ीकी टक्करसे कोई मनुष्य मर जाय तो उसका दण्ड गाड़ीको न होकर उसके चालकको होता है। दुर्घटनारूप क्रिया तो गाड़ीके द्वारा ही हुई, पर उसका दण्ड उसको भोगना पड़ता है, जिसने उस गाड़ीसे अपना सम्बन्ध जोड़ा

अर्थात् जो उस गाड़ीका चालक (कर्ता) बना। जो कर्ता होता है, वही भोक्ता होता है। ऐसे ही पाप-पुण्यरूप क्रिया तो जड़ (शरीर)-के द्वारा ही होती है, पर उसका फल जड़के साथ अपना सम्बन्ध माननेवाले कर्ता (चेतन)-को ही भोगना पड़ता है। तात्पर्य है कि सभी विकार जड़-विभागमें ही होते हैं, पर जड़से तादात्म्य माननेके कारण उसका परिणाम चेतनपर होता है। जैसे ज्वर शरीरमें आता है, पर शरीरसे तादात्म्य करनेके कारण मनुष्य मान लेता है कि मेरेमें ज्वर आ गया। स्वयं (चेतन)-में ज्वर नहीं आता, यदि आता तो कभी मिटता नहीं। जड़-विभागके साथ अर्थात् अपरा प्रकृतिके अंश अहम्के साथ अपना सम्बन्ध (तादात्म्य) मान लेनेके कारण ही अज्ञानी मनुष्य अपनेको कर्ता तथा भोक्ता मान

लेता है—'**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७), '**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्**' (गीता १३। २१)। तात्पर्य है कि स्वयं (चेतन स्वरूप)-में कर्तापन तथा भोक्तापन बनता नहीं है, प्रत्युत वह अविवेकपूर्वक अपनेको कर्ता-भोक्ता मान लेता है। सुखलोलुपता अथवा फलेच्छाके कारण वह अपनेको कर्ता मानता है और अपनेको कर्ता माननेके कारण उसको कर्मफलका भोक्ता बनना पड़ता है। कारण कि अपनेको कर्ता मान लेनेसे वह प्रकृतिकी जिस क्रियाके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है, वह क्रिया उसके लिये फलजनक 'कर्म' बन जाती है।

स्वयंमें लेशमात्र भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है—'**नैव किञ्चित्करोति सः**' (गीता ४। २०), '**नैव किञ्चित्करोमीति**' (गीता ५। ८)। आजतक

चौरासी लाख योनियोंमें जो भी क्रियाएँ की गयी हैं, उनमेंसे कोई भी क्रिया स्वयंतक नहीं पहुँची; क्योंकि स्वयंका विभाग ही अलग है और क्रियाका विभाग ही अलग है। जबतक अपने लिये 'करना' है, तबतक कर्तापन (अहंकार) है; क्योंकि कर्तापनके बिना अपने लिये 'करना' सिद्ध नहीं होता। इसलिये अपने उद्धारके लिये जो साधन किया जाता है, उससे अहंकार ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रहता है। अहंकारपूर्वक किया गया कोई भी कर्म कल्याणकारक नहीं होता; क्योंकि अहंकार ही जन्म-मरणका मूल है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह क्रियाको महत्त्व न देकर स्वयंको महत्त्व दे।

शरीरका सम्बन्ध संसारके साथ है और स्वयंका सम्बन्ध परमात्माके साथ है। शरीर प्रकृतिका अंश है और स्वयं परमात्माका अंश

है। अतः स्वयं कभी शरीरस्थ (शरीरमें स्थित) हो सकता ही नहीं। परन्तु अज्ञानके कारण मनुष्य अपनेको शरीरस्थ मान लेता है। इसमें एक मार्मिक बात है कि अपनेको शरीरस्थ मान लेनेपर भी वास्तवमें स्वयं कर्ता-भोक्ता नहीं बनता—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। इससे सिद्ध होता है कि स्वयंका कर्ता-भोक्ता न होना साधनजन्य नहीं है, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक है। अतः साधकको कर्तृत्व-भोक्तृत्व मिटाना नहीं है, प्रत्युत इनको अपनेमें स्वीकार नहीं करना है; क्योंकि वास्तवमें ये अपनेमें हैं ही नहीं। गीतामें भगवान्‌ने आत्मामें भोक्तृत्वके अभावको आकाशका दृष्टान्त देकर और कर्तृत्वके अभावको सूर्यका दृष्टान्त देकर समझाया है—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥

(गीता १३। ३२)

'जैसे सब जगह व्याप्त आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे कहीं भी लिप्त नहीं होता, ऐसे ही सब जगह परिपूर्ण आत्मा किसी भी देहमें लिप्त नहीं होता।'

चिन्मय सत्ता शरीरस्थ अथवा प्रकृतिस्थ हो ही नहीं सकती। वह आकाशकी तरह सर्वत्र स्थित (सर्वगत) है—'**नित्यः सर्वगतः**' (गीता २।२४)। वह सम्पूर्ण शरीरोंके बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है। वह सर्वव्यापी सत्ता ही हमारा स्वरूप है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

(गीता १३। ३३)

'हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! जैसे एक ही सूर्य

इस सम्पूर्ण संसारको प्रकाशित करता है, ऐसे ही क्षेत्रज्ञ (आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है।'

सूर्यके प्रकाशमें सम्पूर्ण शुभ-अशुभ क्रियाएँ होती हैं। सूर्यके प्रकाशमें कोई वेदका पाठ करता है, कोई शिकार करता है। परन्तु सूर्यको उन क्रियाओंका न तो पुण्य लगता है, न पाप। कारण कि सूर्य उन क्रियाओंका न तो कर्ता बनता है, न भोक्ता ही बनता है। इसी तरह आत्मा (सर्वव्यापी सत्ता) सम्पूर्ण शरीरोंको सत्ता-स्फूर्ति देता है, पर वास्तवमें वह न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

'जिसका अहंकृतभाव (मैं कर्ता हूँ—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह (युद्धमें) इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

जैसे गङ्गाजीमें कोई डूबकर मर जाता है तो गङ्गाजीको पाप नहीं लगता और कोई स्नान आदि करता है तो गङ्गाजीको पुण्य नहीं लगता। कारण कि गङ्गाजीमें अहंकृतभाव (कर्तृत्व) और बुद्धिकी लिप्तता (भोक्तृत्व) नहीं है।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व प्रकृतिमें ही है, स्वरूपमें नहीं। इसलिये अपने स्वरूपमें स्थित तत्त्वज्ञ महापुरुष 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ'—ऐसा अनुभव करता है—'**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' (गीता ५। ८)। खाने-पीने, सोने-जागने, नौकरी-धंधा करने आदि सम्पूर्ण लौकिक क्रियाएँ और श्रवण, मनन, निदिध्यासन

आदि सम्पूर्ण पारमार्थिक क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं। स्वरूपमें कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह शास्त्रविहित लौकिक तथा पारमार्थिक क्रियाओंका बाहरसे त्याग तो न करे, पर उनमें अपना कर्तृत्व न माने अर्थात् उनको अपने द्वारा होनेवाली और अपने लिये न माने। क्रियाका महत्त्व वास्तवमें जड़ताका ही महत्त्व है। क्रियाकी मुख्यता होनेपर वर्षोंतक साधन करनेपर भी प्रत्यक्ष लाभ नहीं दीखता। इसलिये साधकके अन्तःकरणमें क्रियाका अर्थात् जड़-विभागका महत्त्व न होकर चेतन-विभागका ही महत्त्व होना चाहिये। साधक शरीर नहीं होता, जबकि क्रिया शरीरके द्वारा ही होती है। साधकका स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है और सत्तामात्रमें कोई क्रिया नहीं होती। क्रिया

और पदार्थ संसारका स्वरूप है।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व अपनेमें नहीं हैं, प्रत्युत अज्ञानके कारण अपनेमें माने हुए हैं। अपनेमें माननेपर भी वास्तवमें हम कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित ही हैं—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**'। तात्पर्य है कि शरीरमें अपनी स्थिति माननेपर भी वास्तवमें हम शरीरसे असंग हैं। अपनेमें बन्धनकी मान्यता करनेपर भी वास्तवमें हम मुक्त ही हैं। इस सत्यको स्वीकार करना साधकके लिये बहुत ही आवश्यक है।

सार बात

संसारको सत्ता और महत्ता देकर उसमें अपनापन कर लेनेसे मनुष्य पराधीन हो जाता है; क्योंकि संसार 'पर' है। पराधीन मनुष्य सदा दुःखी रहता है—*'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं'* (मानस, बाल० १०२। ३)। वह ऊँच-नीच योनियोंमें भटकता रहता है और दुःख पाता रहता है। इस दुःखसे छुटकारा पानेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य संसारके मालिक परमात्माकी सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उनमें अपनापन कर ले कि केवल वे ही हमारे हैं। परमात्माकी सत्ताको स्वीकार करनेके बाद फिर साधकके लिये किसी अन्यकी सत्ताको स्वीकार करनेकी जरूरत ही नहीं रहती। कारण कि एक परमात्मा ही ऐसे हैं, जो

पहलेसे ही सदा हमारे साथ रहते हैं, कभी हमसे बिछुड़ते नहीं। परमात्माके सिवाय जो भी है, वह सब-का-सब मिलने और बिछुड़ने-वाला है।

परमात्माकी सत्ता और महत्ताको स्वीकार करनेसे साधक व्यर्थ चिन्तनसे छूट जाता है। कारण कि हम जिसकी सत्ता और महत्ता स्वीकार करते हैं, उसीका चिन्तन होता है। जबतक साधक एक परमात्माके सिवाय अन्यकी सत्ता और महत्ता स्वीकार करता रहता है, तबतक उसके मनमें न तो स्थिरता आती है, न निर्भयता आती है और न प्रसन्नता ही आती है। वह न तो मुक्तिका अधिकारी होता है और न भक्तिका ही अधिकारी होता है। यह नियम है कि मनुष्य जिसकी सत्ताको स्वीकार करता है, उसका चिन्तन स्वतः होने लगता है।

अगर साधक संसारके चिन्तनसे छूटना चाहता हो तो उसको संसारकी सत्ताको अस्वीकार करना होगा।

संसार प्रतिक्षण बदल रहा है। उसका पहले भी अभाव था, पीछे भी अभाव हो जायगा और अभी भी वह निरन्तर अभावमें जा रहा है। आजतक किसीको भी संसारकी प्राप्ति नहीं हुई। संसारकी प्रतीति तो होती है, पर प्राप्ति नहीं होती। प्राप्त होनेवाली वस्तु परमात्मा ही है। इसलिये प्रतीतिके आधारपर संसारकी सत्ता मानना अज्ञान है। संसारकी प्रतीति होनेपर भी उसकी सत्ता विद्यमान नहीं है और परमात्माकी प्रतीति न होनेपर भी उसकी सत्ता विद्यमान है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। जिसकी प्राप्ति होती है, वही वास्तवमें अपना है, अपने लिये है और अपनेमें

है। उसकी प्राप्ति क्रियासे नहीं होती, प्रत्युत स्वीकृतिमात्रसे होती है। जो अपना, अपने लिये और अपनेमें नहीं है, उस संसारकी मानी हुई सत्ताको अस्वीकार करनेके लिये अपनेमें परमात्माकी सत्ताको स्वीकार करना आवश्यक है। अगर हम संसारकी सत्ताको न मानें तो परमात्माकी प्राप्ति स्वतःसिद्ध है। असत्‌की निवृत्ति होनेपर सत्‌की प्राप्ति और सत्‌की प्राप्ति होनेपर असत्‌की निवृत्ति स्वतः हो जाती है।

भगवान् अपने हैं, अपने लिये हैं और अपनेमें हैं—इस प्रकार भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास उनकी प्राप्तिका अचूक उपाय है। कारण कि भगवान्‌के सिवाय अन्यपर विश्वास करके ही जीव भगवान्‌से विमुख हुआ है। इसलिये अन्यका विश्वास छोड़नेसे भगवान्‌पर विश्वास दृढ़ हो जाता है। भगवान्‌पर विश्वास दृढ़

होनेपर उनमें आत्मीयता अर्थात् अपनापन हो जाता है और आत्मीयता होनेपर भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। प्रेमकी प्राप्तिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है।

कोई भी मनुष्य अभाव नहीं चाहता; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वरूपसे भावरूप परमात्माका अंश है। परन्तु अभावरूप संसारको सत्ता और महत्ता देनेसे मनुष्यको अपनेमें अभावका अनुभव होने लगता है। जब साधक अपनेमें परमात्माको स्वीकार कर लेता है, तब सब प्रकारके अभावोंका अन्त हो जाता है और वह सदाके लिये स्वाधीन हो जाता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह परमात्माकी सत्ता और महत्ताको स्वीकार करके उनको अपना मान ले—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।'*** जिसको हम अपना मान लेते हैं, उसमें

हमारी स्वाभाविक प्रियता हो जाती है—यह नियम है। इसलिये प्रेम-प्राप्तिके लिये भगवान्‌को अपना मान लेना आवश्यक है। भगवान्‌के सिवाय और कोई भी अपना तथा अपने लिये नहीं है—ऐसा माननेसे प्रेममें दृढ़ता आ जाती है।

अगर साधक निर्विकार होना चाहे तो वह ममताका त्याग कर दे। अगर वह शान्ति प्राप्त करना चाहे तो कामनाका त्याग कर दे। अगर वह मुक्त होना चाहे तो असंग हो जाय। अगर वह प्रेमी होना चाहे तो भगवान्‌को अपना मान ले।

भगवत्प्रेमका स्वरूप और महत्त्व

जीवमात्र भगवान्‌का अंश है। गीतामें भगवान् कहते हैं—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (१५। ७)। भगवान्‌का अंश होनेके कारण जीवमें भगवान्‌के प्रति एक स्वतःसिद्ध आकर्षण है। वह आकर्षण भगवान्‌की तरफ होनेसे 'प्रेम' और नाशवान् पदार्थों तथा व्यक्तियोंके प्रति होनेसे 'राग' (काम, आसक्ति अथवा मोह) हो जाता है। राग तो जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए सम्पूर्ण जीवोंमें रहता है, पर प्रेम केवल भगवान् तथा उनके अनन्यभक्तोंमें ही रहता है*।

---

* 'प्रेम ही भगवान् है'—ऐसा कहना ठीक नहीं है, प्रत्युत 'भगवान्‌में प्रेम है'—ऐसा कहना चाहिये। कारण कि 'प्रेम ही

रागमें सुख लेनेका भाव रहता है, प्रेममें सुख देनेका भाव रहता है। रागमें लेना-ही-लेना होता है, प्रेममें देना-ही-देना होता है। रागमें जड़ताकी मुख्यता होती है, प्रेममें चिन्मयताकी मुख्यता होती है। रागमें पराधीनता होती है, प्रेममें स्वाधीनता होती है। राग परिणाममें दुःख देता है, प्रेम अनन्त आनन्द देता है। राग नरकोंकी तरफ ले जाता है, प्रेम भगवान्‌की तरफ ले जाता है। रागका भोक्ता जीव है, प्रेमके भोक्ता स्वयं भगवान् हैं।

भगवान्‌में भी प्रेमकी भूख रहती है। इसलिये

भगवान् है'—ऐसा माननेसे भगवान् सीमित हो जाते हैं, जबकि भगवान् असीम हैं। प्रेम भगवान्‌की विभूति है। दूसरी बात, 'प्रेम ही भगवान् है'—ऐसा कहनेसे ज्ञानकी प्रधानता रहेगी और प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान नहीं होगा। अतः 'भगवान्‌में प्रेम' है और उस प्रेमको प्रकट करनेके लिये ही भगवान् एकसे दो होते हैं।

उपनिषद्‌में आता है कि भगवान्‌का अकेलेमें मन नहीं लगा तो उन्होंने संकल्प किया कि 'मैं एक ही अनेक रूपोंमें हो जाऊँ'। इस संकल्पसे सृष्टिकी रचना हुई—

'एकाकी न रमते' (बृहदारण्यक० १। ४। ३)

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।

(तैत्तिरीय० २। ६)

सदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति।

(छान्दोग्य० ६। २। ३)

इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने मनुष्यको अपने लिये अर्थात् प्रेमके लिये ही बनाया है। भगवान्‌ने मनुष्यकी रचना न तो अपने सुखभोगके लिये की है और न उसपर शासन करनेके लिये की है, प्रत्युत इसलिये की है कि वह मेरेसे प्रेम करे और मैं उससे प्रेम करूँ। तात्पर्य है कि भगवान्‌ने मनुष्यको अपना दास (पराधीन)

नहीं बनाया है, प्रत्युत अपने समान (सखा) बनाया है। उपनिषद्में आया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

(मुण्डक० ३। १। १; श्वेताश्वतर० ४। ६)

इसलिये सम्पूर्ण योनियोंमें एक मनुष्य ही ऐसा है, जो भगवान्से प्रेम कर सकता है, उनको अपना मान सकता है। जैसे पुत्र मूढ़तावश अलग हो जाय तो माता-पिता चाहते हैं कि वह हमारे पास लौट आये, ऐसे ही भगवान् चाहते हैं कि संसारमें फँसा हुआ जीव मेरी तरफ आ जाय। भगवान्के इस प्रेमकी भूखकी पूर्ति मनुष्यके सिवाय और कोई नहीं कर सकता। देवतालोग भोगोंमें लगे हुए हैं, नारकीय जीव दुःख पा रहे हैं और चौरासी लाख योनियोंके जीव मूढ़ता (अज्ञान, मोह)-में पड़े हुए हैं। एक मनुष्य ही ऐसा है जो

अपनी मूढ़ता मिटाकर यह मान सकता है कि 'मैं संसारका नहीं हूँ, संसार मेरा नहीं है' और 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं।'

मनुष्य तो संसारमें राग करके भगवान्‌से विमुख हो जाता है, पर भगवान् कभी मनुष्यसे विमुख नहीं होते। भगवान्‌का मनुष्यके प्रति प्रेम ज्यों-का-त्यों बना रहता है—***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस, उत्तर० ८६। २)। इस प्रेमके कारण ही भगवान् मनुष्यको निरन्तर अपनी ओर खींचते रहते हैं। इसकी पहचान यह है कि कोई भी अवस्था, परिस्थिति नित्य-निरन्तर नहीं रहती, बदलती रहती है। मनुष्य भगवान्‌के सिवाय जिस वस्तु या व्यक्तिको पकड़ता है, उसको भगवान् छुड़ा देते हैं। परन्तु अन्तःकरणमें संसारका महत्त्व अधिक होनेके कारण मनुष्य भगवान्‌के इस प्रेमको

पहचानता नहीं। अगर वह भगवान्‌के प्रेमको पहचान ले तो फिर उसका संसारमें आकर्षण हो ही नहीं!

मुक्ति तो उनकी भी हो सकती है, जो ईश्वरको नहीं मानते। परन्तु प्रेमकी प्राप्ति सबको नहीं होती। प्रेमकी प्राप्ति भगवान्‌में आत्मीयता (अपनापन) होनेसे होती है। भगवान् मुक्त अथवा ज्ञानी महापुरुषके वशमें नहीं होते, प्रत्युत प्रेमीके वशमें होते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

'हे द्विज! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। मुझे भक्तजन बहुत प्रिय हैं। उनका मेरे हृदयपर पूर्ण अधिकार है।'

ज्ञानीको प्रेम प्राप्त हो जाय—यह नियम नहीं

है, पर प्रेमीको ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है—यह नियम है। यद्यपि प्रेमी भक्तको ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, तथापि उसमें किसी प्रकारकी कमी न रहे, इसलिये भगवान् उसको अपनी तरफसे ज्ञान प्रदान करते हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। ११)

'उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूप (होनेपन)-में रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

प्रेम ज्ञानसे भी विलक्षण है। ज्ञानमें उदासीनता है, प्रेममें मिठास है। जैसे, किसी वस्तुका ज्ञान होनेपर केवल अज्ञान मिटता है, मिलता कुछ नहीं। परन्तु 'वस्तु मेरी है'—इस तरह वस्तुमें

ममता होनेसे एक रस मिलता है। तात्पर्य यह हुआ कि वस्तुके आकर्षणमें जो आनन्द है, वह वस्तुके ज्ञानमें नहीं है। इसलिये ज्ञानमें तो 'अखण्ड आनन्द' है, पर प्रेममें 'अनन्त आनन्द' है। मोक्षकी प्राप्ति होनेपर मुमुक्षा अथवा जिज्ञासा तो नहीं रहती है, पर प्रेम-पिपासा रह जाती है। भोगेच्छाका अन्त होता है, मुमुक्षा अथवा जिज्ञासाकी पूर्ति होती है, पर प्रेम-पिपासाका न अन्त होता है और न पूर्ति होती है, प्रत्युत वह प्रतिक्षण बढ़ती रहती है—'**प्रतिक्षणवर्धमानम्**' (नारदभक्ति० ५४)।

जैसे धनी आदमीको सदा धनकी कमी ही दीखती है –'*जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई*', ऐसे ही प्रेमी भक्तको सदा प्रेमकी कमी ही दीखती है। यदि अपनेमें प्रेमकी कमी न दीखे तो प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान कैसे होगा? अपनेमें

प्रेमकी कमी मानना ही 'नित्यविरह' है। नित्यविरह और नित्यमिलन—दोनों ही नित्य हैं। इसलिये न तो प्रियतमसे मिलनकी लालसा पूरी होती है और न प्रियतमसे वियोग ही होता है—

अरबरात मिलिबे को निसिदिन,
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना।
'भगवतरसिक' रसिक की बातें,
रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना॥

ज्ञानमें तो तृप्ति हो जाती है—'**आत्मतृप्तश्च मानवः**' (गीता ३। १७), पर प्रेममें तृप्ति होती ही नहीं—

राम चरित जे सुनत अघाहीं।
रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

(मानस, उत्तर० ५३। १)

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना।
कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥

भरहिं निरंतर होहिं न पूरे।
तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥

(मानस, अयोध्या० १२८। २-३)

इसलिये मुक्त होनेपर भी स्वयंमें अनन्त-रसकी भूख रहती है। भगवान् श्रीरामको देखकर जीवन्मुक्त एवं तत्त्वज्ञानी राजा जनक कहते हैं—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(मानस, बाल० २१६। ३)

'ब्रह्मसुख' में ज्ञानका अखण्डरस है और 'अति अनुराग' में प्रेमका अनन्तरस है। प्रेमकी जागृतिके बिना स्वयंकी भूखका अत्यन्त अभाव नहीं होता।

मुक्त होनेसे पहले जीव और परमात्मामें भेद होता है, मुक्त होनेपर अभेद होता है और मुक्त होनेके बाद जब प्रेमकी जागृति होती है, तब जीव

(प्रेमी) और परमात्मा (प्रेमास्पद)-में अभिन्नता होती है। मुक्त होनेसे पहलेका भेद अहम्‌के कारण बाँधनेवाला होता है, पर मुक्त होनेके बाद अहम्‌का नाश होनेपर जो प्रेमी और प्रेमास्पदका भेद होता है, वह अनन्त आनन्द देनेवाला होता है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

(बोधसार, भक्ति० ४२)

'बोधसे पहलेका द्वैत तो मोहमें डाल सकता है, पर बोध होनेके बाद भक्तिके लिये कल्पित अर्थात् स्वीकृत द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

भक्तियोगमें तो सीधे ही प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है, पर ज्ञानयोगमें मुक्तिके बाद प्रेमकी प्राप्ति होती है—**'मद्भक्तिं लभते पराम्'** (गीता १८।५४)। ज्ञानयोगके जिस साधकमें भक्तिके

संस्कार होते हैं, जो मुक्तिको ही सर्वोपरि नहीं मानता, ऐसे साधकको मुक्ति प्राप्त होनेके बाद भी सन्तोष नहीं होता। अतः भगवान् अपनी अहैतुकी कृपासे उसके मुक्तिके अखण्डरसको फीका कर देते हैं और अपने प्रेमके अनन्तरसकी प्राप्ति करा देते हैं। परन्तु जिस साधकमें भक्तिके संस्कार नहीं होते और जो मुक्तिको ही सर्वोपरि मानकर भक्तिका अनादर, तिरस्कार, खण्डन करता है, वह सदा मुक्त ही रहता है। उसको प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती।

जिस साधनमें अपने उद्योगकी मुख्यता होती है, वह 'लौकिक' होता है और जिस साधनमें भगवान्‌के आश्रयकी मुख्यता होती है, वह 'अलौकिक' होता है। भगवान्‌ने कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंको 'लौकिक निष्ठा' बताया है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(गीता ३। ३)

परन्तु भक्तियोग 'अलौकिक निष्ठा' है। कारण कि जो भगवान्‌के आश्रित हो जाता है, वह भगवन्निष्ठ होता है। उसका साधन और साध्य—दोनों भगवान् ही होते हैं। क्षर और अक्षर—दोनों लौकिक हैं—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५। १६)। परन्तु भगवान् अलौकिक हैं—'**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः**' (गीता १५। १७)। कर्मयोग 'क्षर' (जगत्)-को लेकर और ज्ञानयोग 'अक्षर' (जीव)-को लेकर चलता है, पर भक्तियोग भगवान्‌को लेकर चलता है। अतः कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है। प्रेमलक्षणा भक्ति ही

सर्वोपरि प्रापणीय तत्त्व है।

लौकिक साधनावाले जो साधक मोक्षको ही सर्वोपरि मानकर भक्तिका अनादर, उपेक्षा करते हैं, वे प्रेमके तत्त्वको समझ ही नहीं सकते। परन्तु अलौकिक साधनावाला भक्त आरम्भसे ही भगवान्‌में अपनापन करके उनके आश्रित हो जाता है तो भगवान् उसको मोक्ष और प्रेम—दोनों प्रदान कर देते हैं।

शरीर तथा संसार 'पर' हैं और स्वयं तथा परमात्मा 'स्व' हैं। 'स्व' के दो अर्थ होते हैं—स्वयं और स्वकीय। परमात्माका अंश होनेसे हम परमात्माके हैं और परमात्मा हमारे हैं; अत: परमात्मा 'स्वकीय' हैं। स्वकीयकी अधीनतामें पराधीनता नहीं है, प्रत्युत असली स्वाधीनता है। जैसे, बालकके लिये माँकी अधीनता पराधीनता नहीं होती; क्योंकि माँ 'पर' नहीं है,

प्रत्युत अपनी होनेसे 'स्वकीय' है। इसलिये माँकी अधीनतामें बालकका विशेष हित होता है और अपनेपर कोई जिम्मेवारी न होनेसे बालक निर्भय और निश्चिन्त रहता है।

मुक्ति प्राप्त होनेपर मुक्त महापुरुषमें अहम्‌की एक सूक्ष्म गंध रहती है। अहम्‌की यह गंध मुक्तिमें बाधक नहीं होती, प्रत्युत मुक्त महापुरुषोंमें मतभेद पैदा करनेवाली होती है। परन्तु प्रेमकी प्राप्ति होनेपर अहम्‌का सर्वथा नाश हो जाता है, अहम्‌की सूक्ष्म गंध भी नहीं रहती—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंका परिणाम एक ही होता है*। दोनोंके परिणाममें मनुष्य

* साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितःसम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

मुक्त हो जाता है; अर्थात् जन्म-मरणसे, सम्पूर्ण दुःखोंसे छूट जाता है और स्वाधीन हो जाता है। मुक्त होनेपर संसारकी निवृत्ति तो हो जाती है, पर प्राप्ति कुछ नहीं होती। परन्तु भक्तियोगसे संसारकी निवृत्तिके साथ-साथ परमात्माकी तथा उनके प्रेमकी प्राप्ति भी हो जाती है। मुक्तिमें तो जीव स्वयं जीवन्मुक्तिके रसका आस्वादन करनेवाला होता है, पर प्रेम (पराभक्ति)-की प्राप्ति होनेपर वह रसका दाता हो जाता है! भगवान्‌को भी रस देनेवाला हो जाता है! जैसे कोई मनुष्य गङ्गाजलसे गङ्गाकी पूजा करे तो इसमें गङ्गाकी ही विशेषता हुई, मनुष्यकी नहीं। ऐसे ही भक्त भगवान्‌के दिये हुए प्रेमसे ही

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(गीता ५। ४-५)

उनको रस देता है तो इसमें भगवान्‌की ही विशेषता हुई।

प्रेमकी प्राप्ति अपने बल, योग्यता, विद्या, यज्ञ, तप आदि साधनोंसे नहीं होती, प्रत्युत भगवान्‌को अपना माननेसे होती है। बल, योग्यता आदिके बदले जो वस्तु मिलेगी, वह बल, योग्यता आदिसे कम मूल्यकी ही होगी। अगर किसी साधनके बदले साध्य मिलेगा तो वह साधनसे तुच्छ ही होगा, और ऐसा साध्य मिलकर भी हमें क्या निहाल करेगा? इसलिये भगवान्‌को अपना माने बिना प्रेम-प्राप्तिका दूसरा कोई साधन हो ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान् वास्तवमें अपने हैं। अपना वही होता है जो कभी हमारेसे बिछुड़ता नहीं। एक भगवान् ही ऐसे हैं, जो हमारेसे कभी बिछुड़ते नहीं, सदा हमारे साथ रहते हैं—‘**सर्वस्य चाहं**

हृदि सन्निविष्टः' (गीता १५। १५)।

भगवान् भक्तके अपनेपन (आत्मीयता)-को देखते हैं, यह नहीं देखते कि यह कैसा है, बद्ध है या मुक्त? जैसे बालक माँको पुकारता है तो वह बालकके बल, योग्यता, विद्या आदिको न देखकर उसके अपनेपनको देखती है और उसको गोदमें ले लेती है। ऐसे ही जब भक्त अपनी स्थितिसे असन्तुष्ट होकर भगवान्‌को पुकारता है, तब भगवान् उसको अपना प्रेम प्रदान कर देते हैं।

जब जीव अपनेसे भी अधिक शरीर-संसारको महत्त्व देता है, तब वह बँध जाता है। जब वह शरीर-संसारसे भी अधिक अपनेको महत्त्व देता है, तब वह मुक्त हो जाता है। जब वह अपनेसे भी अधिक भगवान्‌को महत्त्व देता है, तब वह भक्त (प्रेमी) हो जाता है। प्रेमकी

प्राप्ति होनेपर भक्त और भगवान् कभी दो हो जाते हैं, कभी एक हो जाते हैं। जब भक्त अपनी तरफ देखता है, तब 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं'—ऐसा अनुभव होनेसे भक्त और भगवान् दो हो जाते हैं। जब भक्त भगवान्‌की तरफ देखता है, तब 'एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है'—ऐसा अनुभव होनेसे भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं। इस प्रकार द्वैत और अद्वैत दोनों होनेसे ही प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है अर्थात् उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है, कभी पूर्णता नहीं आती।

परमपितासे प्रार्थना

जीवमात्र भगवान्का ही अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७), *'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥'* (मानस, उत्तर० ११७।१)। अतः भगवान् पिता हैं और जीवमात्र उनका पुत्र है। पिताका स्वाभाविक ही पुत्रमें प्रेम, अपनापन होता है। परन्तु जीव अपने परमपिताको भूलकर मायाके वशमें हो जाता है—*'सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥'* (मानस, उत्तर० ११७।२)। अब वह अपने परमपिता भगवान्की कृपासे ही इस मायासे छूट सकता है। हमारे परमपिता सर्वसमर्थ हैं। हमें मायाके वशसे छुड़ानेके लिये उनके समान कोई दूसरा है ही

नहीं। इसलिये हमें अपने परमपितासे प्रार्थना करनी चाहिये—

हे परमपिता! हे परमेश्वर! आप इस मायासे मेरेको छुड़ाओ। मैं अपनी शक्तिसे छूट नहीं सकता। आप कहते हैं कि तुम्हारेमें शक्ति है, पर हमें ऐसी शक्ति दीखती नहीं। आपमें अपार, अनन्त, असीम शक्ति है, जिसका कोई पारावार नहीं है। ऐसी शक्तिके होते हुए मैं मायाके परवश हो गया! आप जरा सोचो। आप पिता हो न? पिताको सोचना चाहिये न? पुत्रकी सहायता पिता ही करेगा, और कौन करेगा? दूसरेको दया क्यों आयेगी? परमपिताको ही तो दया आयेगी। इसलिये दया करके मेरेको बचाओ प्रभो! आपके होकर और किसको कहें? आपसे अधिक समर्थ कौन है? आपकी दृष्टिमें कोई हो तो बता दो।

हमारेको तो कोई दीखता नहीं। गीतामें भी लिखा है कि आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो हो ही कैसे सकता है—**'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः'** (गीता ११।४३)। इसलिये यह काम तो आपको ही करना पड़ेगा। ***'काम हमारो जमत है, रमत तिहारी राम'!*** आपका तो खेल होगा, हमारा काम हो जायगा!

महाराज! हमारे एक मुश्किल हो गयी है। आप कहते हो कि तुम्हारेमें शक्ति है, पर शक्ति हमें याद नहीं है। फँसना तो हमें दीखता है, पर छूटनेकी शक्ति हमें नहीं दीखती। हमारेमें शक्ति हो तो आपको क्यों कहें? हम ही अपना काम कर लें। हमारेमें शक्ति नहीं है, अगर है तो उसको आप जगा दो। होना होगा तो आपकी कृपासे ही होगा। विचार करें तो आपकी कृपाको

छोड़कर और कोई दीखता नहीं है।

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

(मानस, सुन्दर०)

'हे रघुनाथजी! मैं सत्य कहता हूँ और फिर आप सबके अन्तरात्मा ही हैं (सब जानते ही हैं) कि मेरे हृदयमें दूसरी कोई इच्छा नहीं है। हे रघुकुलश्रेष्ठ! मुझे अपनी निर्भरा (पूर्ण) भक्ति दीजिये और मेरे मनको काम आदि दोषोंसे रहित कीजिये।'

हे प्रभो! यह काम आपको ही करना होगा। आपको छोड़कर हम कहाँ जायँ? किसको कहें? कौन सुनेगा? क्यों मानेगा? हम आपके हैं। आपने कहा है—'**ममैवांशो जीवलोके**'

(गीता १५।७)। आपका अंश होकर हम दुःख पायें? आपकी सामर्थ्य अपार है, अनन्त है, असीम है—इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु ऐसी सामर्थ्यके होते हुए भी हम दुःख पा रहे हैं? आपके सिवाय हमारा कौन है?

संसार साथी सब स्वार्थ के हैं,
पक्के विरोधी परमार्थ के हैं।
देगा न कोई दुःख में सहारा,
सुन तू किसी की मत बात प्यारा।

इसलिये हे मेरे नाथ! हे मेरे स्वामी! हे मेरे प्रभो! आपके सामने तो मामूली चीज है। आप थोड़ी-सी कृपा कर दो तो इतनेमें हमारा काम हो जायगा! आपका अंश होकर, दास होकर हम दूसरे किसीको कहें तो यह बड़े शर्मकी बात है। आपके लिये यह कोई बड़ा भारी काम नहीं है। बहुत छोटा, तुच्छ काम है।

आपके सामने तो मामूली बात है, पर हमारी सब आफत छूट जायगी। हम जैसे होने चाहिये, वैसे नहीं हैं, यह बात ठीक है, हम स्वीकार करते हैं; परन्तु हम कैसे ही हों, हैं तो आपके ही। हम किसी दूसरेके तो हो नहीं सकते। अब ऐसी कृपा करो कि आपकी निर्भरा भक्ति मिल जाय। हम आपपर ही निर्भर हो जायँ। आपके ही चरणोंके शरण हो जायँ। आपके तो कोई घाटा पड़ेगा नहीं, पर हमारा बड़ा भारी काम हो जायगा। यह हम अपनी शक्तिसे नहीं कर सकते। आप देखते हैं कि हम पात्र नहीं हैं तो पात्र भी आपकी शक्तिसे ही बनेंगे। आपकी शक्तिसे ही मनुष्य योग्य बनता है। आपकी जो अपार, अनन्त शक्ति है, उसीसे सब काम होता है। नहीं तो फिर आप जानो, आपका काम जाने! हमने तो अपनी

बात कह दी, अब जैसी आपकी मरजी, वैसा करो। जिसमें आपकी प्रसन्नता हो, वह करो। हमारा कोई आग्रह नहीं है। हम तो समझते नहीं महाराज! हमारी अक्लमें बात नहीं आती। हमारे अधिकारकी बात नहीं दीखती। आपको दीखती हो तो वैसे कर लीजिये।

आप कृपा को आसरो, आप कृपा को जोर।
आप बिना दीखै नहीं, तीन लोक में और॥

हम अयोग्य हैं। जो अयोग्य होते हैं, वे ही आपकी कृपाके अधिकारी होते हैं। जो योग्य हैं, वे कृपाकी चाहना क्यों करेंगे? वे अपना काम खुद कर लेंगे। परन्तु हमारेसे ऐसा नहीं होगा। आप ही कृपा करके अपनी निर्भरा भक्ति दीजिये। निर्भरा भक्ति पाकर हम कृतार्थ हो जायँगे! आपके चरणोंकी निर्भरा भक्ति मिल जाय तो फिर 'कामादि दोषोंसे रहित कीजिये'—

ऐसा कहनेकी जरूरत ही नहीं। हमारे मनमें तो आती है कि आपको कुछ नहीं कहें। आप सब जानते हो। आपसे अपरिचित कुछ नहीं है। हम आपकी जानकारीमें हैं। आप जानते हो कि हम कैसे हैं। हम जैसे भी हैं, आपके ही हैं।

गायका बच्चा मलसे भरा होता है तो गाय मुखसे चाटकर उसको साफ कर देती है। आप नहीं करो तो आपकी मरजी। आपकी जैसी प्रसन्नता हो, वैसा करो। हम उसमें ही राजी हैं। हमारी इस अवस्थामें ही आप राजी हों तो कोई बात नहीं। फिर परवाह ही नहीं। फिर हमारे चित्तमें बहुत आनन्द है। क्यों आनन्द है? कि आपकी ऐसी ही मरजी है। हमने तो अपनी बात कह दी, अब आप जानो, आपका काम जाने। आपको छोड़कर और किसको अपनी बात कहें? और कौन सुनेगा? सुनकर

भी वह क्या करेगा बेचारा! दूसरेमें वह शक्ति नहीं है। सन्तोंने कहा है—

घर घर लागो लायणो, घर घर दाह पुकार।
जनहरिया घर आपणो, राखै सो हुसियार॥

अपना घर रखनेकी शक्ति भी हमारेमें नहीं है! हमें तो केवल आपकी कृपाका ही भरोसा है। और हमें क्या करना है महाराज! आप ही बताओ। हम तो जैसे हैं, आपके सामने हैं। अब आपकी जैसी मरजी हो, वैसे करो। परन्तु आपकी मरजीमें हम सन्तोष करें, वह सन्तोष भी आप दे दीजिये। फिर हमारे आनन्दका ठिकाना नहीं है!

हे प्रभो! हे दीनानाथ! हे पतितपावन! हे अशरणशरण! आप पापियोंका भी उद्धार कर देते हो, अयोग्यको भी योग्य बना देते हो। सब आपकी मरजी है। आप ही जानो महाराज! हे

नाथ! अगर हम घोर पापी हैं तो आपके हैं, कम पापी हैं तो आपके हैं और पापरहित हैं तो आपके हैं। हमारा उद्धार आपको ही करना है। आपके ऊपर ही हमारा भार है। हम जैसे हैं, वैसे ही आपके हैं। अगर हम भक्त हैं तो आप भक्तवत्सल हो, हम पतित हैं तो आप पतितपावन हो। भक्तोंका उद्धार करनेवाले भी आप ही हो और पापियोंका उद्धार करनेवाले भी आप ही हो। आपके सिवाय और कौन है हमारा? हम शुद्ध हो जायँ तो कई हमारे हो जायँगे। परन्तु अशुद्धको कोई अपनाता नहीं। आप तो सबके हो। हम शुद्ध हैं तो आपके हैं, अशुद्ध हैं तो आपके हैं। अच्छे हैं तो आपके हैं, मन्दे हैं तो आपके हैं। आपके सिवाय और किसके शरण जायँ? सिवाय आपके अपना कोई नहीं है। हमारा उद्धार तो आपको ही

करना है। महान् अशुद्धको शुद्ध बनानेवाले आप ही हो। घोर पापीका उद्धार करनेवाले भी आप ही हो। हम आपके ही अंश हैं, आपसे ही पैदा हुए हैं; अतः हम जैसे हैं, वैसे-के-वैसे आपके हैं। शबरीने कहा—

अधम ते अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥

(मानस, अरण्य० ३५। २)

ऐसोंका उद्धार भी आप ही करते हो। आपके सिवाय अधमोंका उद्धार करनेवाला और कोई नहीं है। अधमोंकी उपेक्षा करनेवाले बहुत मिल जायँगे। अधमोंसे, पापियोंसे सब घृणा करते हैं, पर आप उनको शुद्ध करनेवाले हो। उनको शुद्ध करनेकी जिम्मेवारी आपपर है; क्योंकि वे पापी आपके ही हैं। आप पतितपावन हैं। इसलिये हम ज्यादा पापी हैं या

कम पापी हैं, इसका विचार हम क्यों करें?

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥

(दोहावली २७७)

बड़े-बड़े पापियोंका भी आपने उद्धार किया है, कसाइयोंका भी उद्धार किया है, महान् चोर-डाकुओंका भी उद्धार किया है। यह तो आपका स्वभाव है। इसलिये हे नाथ! हमारा उद्धार आपको ही करना है। हम कैसे ही हैं, हैं तो आपके ही। हम आपकी दयाके भरोसे आपकी शरणमें आये हैं, जैसा कि विभीषणने कहा है—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

(मानस, सुन्दर० ४५)

आपके सिवाय और कोई भी सुननेवाला नहीं है। ऐसी दयालुता किसीमें नहीं है।

आपके समान दयालु हमने दूसरा कोई सुना नहीं है। सुनें कैसे? है ही नहीं। इसलिये हम आपके चरणोंमें आकर पड़ गये हैं। बस, अब और विचार ही क्यों करें? विचार करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। कहीं जानेकी जरूरत ही नहीं है। किसीसे पूछनेकी जरूरत ही नहीं है। हमारे तो जो कुछ हो, सब आप ही हो। एक आपपर ही विश्वास है। एक आपकी ही आशा है।

सुर नर मुनि सब कै यह रीती।
स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥
हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, किष्किंधा० १२।१, उत्तर० ४७।३)

बिना हेतु उद्धार करनेवाले दो ही हैं—एक आप और एक आपके प्यारे भक्त। इनके

हृदयमें स्वाभाविक ही दूसरोंका उद्धार करनेकी बात रहती है। आपके भक्तोंमें तो आपसे भी अधिक उत्साह रहता है। आपके भक्तोंमें यह स्वभाव आपसे ही आया है। परन्तु आपमें यह स्वभाव पहलेसे ही स्वतः-स्वाभाविक है। अधमोंका उद्धार करना आपका स्वभाव है, आपकी आदत है। अधमोंका उद्धार करते-करते आपकी कृपामें कमी नहीं आती—*'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती'* (मानस, बाल० २८। २)। आपकी कृपा आपके स्वभावको लेकर ही है—*'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥'* (मानस, उत्तर० १२४। २)। ऐसा स्वभाव कहीं सुना नहीं, कहीं देखा नहीं। आपके समान कौन है? आपने पहलेसे ही बिना हेतु कृपा करनेका स्वभाव स्वतः बना रखा है। इसलिये आपको कहनेकी हिम्मत

होती है। आपके सिवाय और किसीको कहनेकी हिम्मत ही नहीं होती! अब मारो चाहे तारो, कुछ भी करो, हम तो आपके हैं। अगर हम अनन्य शरण नहीं हैं तो आप अनन्य कर लो महाराज! आप जैसा चाहते हो, वैसा बना लो। हम तो वैसा बन नहीं सके, अपनेको शुद्ध कर नहीं सके! बालक कैसा ही हो, उसको स्नान तो माँ ही कराती है। परन्तु बालक रोता है कि माँ स्नान क्यों कराती है? हम तो ऐसे हैं महाराज!

हे नाथ! हे पतितपावन! हे अधम-उद्धारक! हे कृपासिन्धो! हे दयासिन्धो! आपके चरणोंका ही आश्रय है। और किसीको हम जानते ही नहीं हैं। जानें क्या, आपके सिवाय और कोई है ही नहीं, कोई हुआ ही नहीं, कोई होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। जो दीन हैं, नीच हैं,

वे आपको प्यारे लगते हैं। आपका ऐसा स्वभाव सुनकर ही हम आपकी शरणमें आये हैं—*'श्रवन सुजसु सुनि आयउँ।'* हमारेमें कमी हो तो आप दूर कर दो। हम तो कमीसे ही भरे हुए हैं। हम अच्छे-मन्दे जैसे हैं, आपके ही हैं। आपके चरणोंको छोड़कर हम कहाँ जायँ?

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे॥

(विनयपत्रिका १०१)

गीतामें भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके अनेक साधन बताये हैं। जिससे मनुष्यका कल्याण हो जाय, ऐसी कोई भी युक्ति, उपाय भगवान्‌ने बाकी नहीं रखा है। अनन्त मुखोंसे कही जानेवाली बातको भगवान्‌ने एक मुखसे गीतामें कह दिया है! इसलिये गीताके टीकाकार श्रीधरस्वामी लिखते हैं—

शेषाशेषमुखव्याख्याचातुर्यं त्वेकवक्त्रतः।
दधानमद्भुतं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

'शेषनागके द्वारा अपने अशेष मुखोंसे की जानेवाली व्याख्याके चातुर्यको जो एक मुखसे ही धारण करते हैं, उन अद्‌भुत परमानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।'

गीता ज्ञानका अथाह समुद्र है। इसका अध्ययन करनेपर नये-नये भाव मिलते हैं और मिलते ही चले जाते हैं। हाँ, अगर कोई विद्वत्ताके जोरपर गीताका अर्थ समझना चाहे तो नहीं समझ सकेगा। अगर गीता और गीतावक्ताकी शरण लेकर उसका अध्ययन किया जाय तो गीताका तात्त्विक अर्थ स्वतः समझमें आने लगता है।

—'साधन-सुधा-सिन्धु' ग्रन्थसे

मनुष्यमात्रके भीतर स्वत: यह भाव रहता है कि मैं बना रहूँ, कभी मरूँ नहीं। वह अमर रहना चाहता है। अमरताकी इस इच्छासे सिद्ध होता है कि वास्तवमें वह अमर है। अगर वह अमर न होता तो उसमें अमरताकी इच्छा भी नहीं होती। जैसे, भूख और प्यास लगती है तो इससे सिद्ध होता है कि ऐसी वस्तु (अन्न और जल) है, जिससे वह भूख-प्यास बुझ जाय। अगर अन्न-जल न होता तो भूख-प्यास भी नहीं लगती। अत: अमरता स्वत:सिद्ध है।

—'**अमरताकी ओर' पुस्तकसे**